❑ डॉ० रमेश चन्द्र शर्मा

जैन कला का पुरातात्विक महत्व

भारतीय संस्कृति के विकास व पल्लवन में जैन धर्म का विशिष्ट योगदान रहा है। अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय, स्यादवाद जैसे सार्वभौम और विश्व-कल्याण के सिद्धांतों को प्रस्तुत और प्रचारित कर इसने समस्त मानव जाति को एक सूत्र में पिरोने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। फलत: जैन धर्म के आदर्श आदि काल से ही लोक मानस को आकृष्ट करते रहे हैं। प्रचुर साहित्य के साथ कला और पुरातत्व के प्रमाण भी इस तथ्य के साक्षी हैं।

जैन कला के विकास की आरम्भिक कड़ी कहां और कब से है, यह कहना कठिन है। पुरातत्व इस दिशा में हमारी सहायता तो करता है, किन्तु यह तर्क, विवेचन और विश्लेषण का क्षेत्र है जिसमें उत्साह के वेग के साथ धैर्य का अंकुश भी अभीष्ट है। जैन परम्परा के अनुसार जिन मूर्ति पूजा एक शाश्वत पद्धति है जो भगवान् ऋषभदेव के समय से ही प्रचलित हुई। एक तीर्थंकर से दूसरे के बीच की अवधि कभी-कभी इतनी अधिक है कि इसकी काल गणना आज के कम्प्यूटर युग में भी सम्भव नहीं प्रतीत होती तो बेचारा पुरातत्व ही इस काल अवधि तक कैसे पहुंच पाएगा।

यदि सिन्धु संस्कृति के अवशेषों को कला की दृष्टि से प्राचीनतम मान लें (यद्यपि मेहर गढ़ आदि स्थल और अधिक प्राचीन हैं) तो हड़प्पा से निकला मानव धड़ शरीर रचना, नग्नाकृति, सुदृढ़ आकार की दृष्टि से किसी तीर्थंकर की मूर्ति का प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है। सिन्धु संस्कृति अभी तक रहस्य के आवरण से ढकी है और जब तक लिपि का प्रामाणिक ढंग से वाचन नहीं हो जाता तब तक रहस्य का उद्घाटन सम्भव नहीं है। पिछले लगभग आठ दशकों से पुराशास्त्री इस ओर सतत प्रयासरत हैं। सिंधु संस्कृति का समय 2700 ई0 पू0 से 1500 ई0 पू0 के बीच का है।

तत्पश्चात् पुरातत्व दीर्घ काल तक मौन साधना करता है और जर्मन पुरावेत्ता डॉ0 ए0 फ्यूहरर को मथुरा नगर के पश्चिमी अंचल में कंकाली नामक स्थल से जैन कलाकृतियों का विपुल कोष 1889-91 ई0 के बीच मिलता है। ये प्रस्तर कला कृतियां द्वितीय शती ई0 पू0 से 12वीं शती ई0 तक की हैं। आरम्भ आयाग-पट्ट के मंगल चिन्हों से हुआ तत्पश्चात् जिन आकृतियां आईं। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ श्री कृष्ण के समकालीन और ब्रजमण्डल के निकटवर्ती शौरिपुर बटेश्वर (आगरा) से सम्बन्धित थे। सुपार्श्व, पार्श्व व महावीर की भी अधिक मान्यता थी और अन्तिम केवली जम्बू स्वामी ने यहीं अपना शरीर त्याग किया। फलत: यहां अनेक कालों में और विभिन्न चरणों में स्तूप या चैत्य बनते रहे एवं जिन मूर्तियां स्थापित होती रहीं। यह कला सम्पदा अब राज्य संग्रहालय, लखनऊ में सुरक्षित है।

इनमें एक जिन मूर्ति की चरम चौकी का प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में उल्लिखित लेख अद्वितीय महत्व का है। इसके अनुसार कुबेरा देवी द्वारा देव निर्मित स्तूप का जीर्णोद्धार पार्श्वनाथ जिन के समय हुआ। यदि अन्य तीर्थंकर इतिहास और पुरातत्व की सीमा से बाहर भी हों तो वर्धमान महावीर और उनके पूर्ववर्ती जिन पार्श्वनाथ अवश्य ऐतिहासिक विभूति थे जिनका समय क्रमश: पांचवी व आठवीं शती ई0 पू0 स्थिर हुआ है। यदि सन्दर्भान्तर्गत मूर्तिलेख और उसके पुष्टिकर्त्ता साहित्यिक प्रसंगों को प्रामाणिक माना जाय तो निष्कर्ष निकलता है कुबेरा देवी द्वारा स्थापित मूल स्तूप इतना प्राचीन और जीर्ण हो चुका था कि आठवीं शती ई0 पू0 में उसके जीर्णोद्धार की आवश्यकता अनुभूत हुई। अवश्य ही यह कुछ और शताब्दी पूर्व बना होगा। इसे देव निर्मित कहने से भी प्राचीनता सिद्ध होती है, क्योंकि यह कब बना इस तथ्य को लोग भूल चुके थे। जिस स्मारक की स्थिति आठवीं शती से कुछ शताब्दी पूर्व स्थिर होने के सूत्र मिल रहे हों यह भारतीय स्थापत्य के उद्भव व विकास के नए अध्याय का श्रीगणेश करता है।

जैन मूर्ति कला का सांगोपांग अध्ययन मथुरा से मिले अवशेषों के माध्यम से सम्भव है। साथ ही जैन स्थापत्य (चैत्य स्तूप) और समाज का भी विशद विवरण प्राप्त होता है। क्योंकि बहुत सी प्रतिमाएं अभिलिखित और संवत् तिथि आदि से भी अंकित हैं अत: तत्कालीन सांस्कृतिक अध्ययन के लिए वे दर्पणवत् समादृत हैं। सरस्वती की प्राचीनतम प्रतिमा जिस पर देवी का नाम उत्कीर्ण है, यहीं से मिली। यहां यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन धर्म ग्रन्थों के संकलन, सम्पादन, संरक्षण के लिए सरस्वती आन्दोलन कुषाण काल में मथुरा से आरम्भ हुआ जिसे माथुरी वाचना भी कहते हैं। समकालीन सरस्वती प्रतिमा का इस दृष्टि से और अधिक महत्व है। इस आन्दोलन से प्रेरित हो देश के विभिन्न स्थानों में जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सरस्वती भण्डार अथवा ग्रन्थागार निर्मित हुए जो सौभाग्य से अभी तक सुरक्षित हैं।

ऋषभनाथ की गुप्त कालीन प्रस्तर पट मूर्ति में उनका नाम "ऋषभस्य प्रतिमा" लिखा है। कन्धे पर जटा पड़ी है इससे आदिनाथ की मूर्तियों को पहचानने में बड़ी सहायता मिली। कालान्तर में तो सभी जिनों के निश्चित चिन्ह, यक्ष, शासन देवता आदि स्थिर हो गए।

एक ओर मथुरा जैन मूर्तिकला, स्थापत्य और धर्म ग्रन्थों के विशाल केन्द्र के रूप में ईसा से कई शती पूर्व विकसित हो रहा था उधर बिहार में मौर्य नरेश आजीवक जैन साधुओं के विश्राम के लिए बराबर की पहाड़ियों में कुटियों की व्यवस्था कर रहे थे। बिहार तीर्थंकरों की अवतार भूमि रही है अत: जैन अनुयायी अथवा सहिष्णु शासकों के लिए यह पुण्यार्जन का कार्य था। उड़ीसा भी इस दृष्टि से अग्रणी रहा और द्वितीय शती ई0 पू0 में खारवेल नामक जैन सम्राट ने अपनी उपलब्धियों का ब्यौरा भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि गुहा में एक विस्तृत ब्राह्मी लेख में छोड़ा है। इनमें एक घटना जैन कला और पुरातत्व के दिग्दर्शन के लिए अत्यन्त उपयोगी है। वह उस जिन मूर्ति को कलिंग वापस लाने में सफल हुआ, जिसे पूर्ववर्ती मगध नरेश ले गए थे। यह कौन सी मूर्ति है और कहां है यह विवादास्पद है। वैसे एक जैन प्रतिमा जो पटना के पास लोहानीपुर से मिली अब पटना संग्रहालय में है। कला शैली की दृष्टि से अवश्य ही यह मौर्यकाल की है। किन्तु यह कहना कठिन है कि खारवेल के शिलालेख में जिस प्रतिमा का वर्णन है वह यही है क्योंकि पुन: यह कलिंग से मगध कैसे पहुंची इस बारे में इतिहास व पुरातत्व मौन है।

यहां विचारणीय तथ्य यह है कि जिन मूर्तियां मौर्य युग में निर्मित व पूजित होती थी और उनकी प्रतिष्ठा शासकों की प्रतिष्ठा थी। खारवेल ने भी जैन साधुओं के विश्राम, चिन्तन, मनन, अनुशीलन के लिए उदयगिरि-खण्डगिरि में आश्रय स्थल बनवाए। इन कक्षों पर अनेक कथानक उत्कीर्ण हैं। स्थिति को देखते हुए यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि पहाड़ी का एक भाग सभा स्थल अथवा प्रेक्षागार के रूप में बनाया गया जहां से लीला अथवा नाटकों का मंचन होता था। कला व पुरातत्व की दृष्टि से उदयगिरि-खण्डगिरि का जैन गुहा समूह प्रशंसनीय है।

कुछ शताब्दियों तक गुहा तक्षण अत्यन्त लोकप्रिय हुआ और पश्चिमी भारत पर्वत विश्रामालयों का केन्द्र बन गया। इस दिशा में पहले पांच सौ वर्षों तक बौद्धों का वर्चस्व रहा जिसके फलस्वरूप भाजा, कार्ले, कोण्डाने, बाघ, अजन्ता आदि प्रसिद्ध गुहा मण्डप बने। कालान्तर में हिन्दू व जैन समाज ने भी इस पद्धति को अपनाया। एलोरा इस दृष्टि से उल्लेखनीय है क्योंकि यहां तीनों धर्मों के गुहा मण्डप हैं। संवत् 30 से 34 तक के गुहा मण्डप जैन हैं जो नवीं शती में बने। इनमें छोटा कैलास और इन्द्र सभा प्रसिद्ध है। यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि गुहा तक्षण सामान्य भवन पद्धति से अधिक कठिन श्रमसाध्य तथा कुशलता का परिचायक है। गुहा तक्षण कुछ अन्य देशों में भी हुआ किन्तु भारतीय गुफा मण्डपों की कोई तुलना नहीं। विश्व स्थापत्य के लिए भारत का यह विलक्षण योगदान है। सामान्य भवन में तो यदि कोई त्रुटि हो जाय तो उसका परिष्कार व परिवर्तन संभव है, किन्तु पर्वत तक्षण में परिष्कार व परिवर्तन का कोई अवसर नहीं। यहां तो पर्वत को काटकर ही सब कुछ बनाना है। शिल्प, लतावल्लरी, स्तम्भ, द्वार, प्रकोष्ठ और यहां तक कि उपास्य मूर्तियां भी पर्वत का ही अंग है बाहर से लाकर कुछ नहीं लगाया जाता। अत: कला साधना में अत्यन्त सावधानी अपेक्षित है। साथ ही गुहा तक्षण में तक्षण कार्य ऊपर से होता है नीचे से नहीं, क्योंकि यहां नींव की आवश्यकता नहीं। एलोरा की जैन गुफाएं इसी विलक्षणता की द्योतक हैं। बादामी की जैन गुफा एलोरा से पूर्ववर्ती और छोटी है।

दक्षिण भारत में भी जैन धर्म का प्रसार हुआ और कर्नाटक इस दृष्टि से अग्रणी है। गोमटेश्वर की विशाल प्रतिमा न केवल आकार की दृष्टि से आश्चर्यजनक है अपितु इसका कलात्मक सौष्ठव भी सराहनीय है। विशालता में सौम्यता, यौवन में निवृत्ति, वैभव में तपोवृत्ति आदि का विलक्षण समन्वय इस मूर्ति के माध्यम से दिग्दिगन्त में प्रस्फुटित होता है और हम सब इस अलौकिक उपलब्धि के समक्ष कितने बौने दीखते हैं।

जब मन्दिर निर्माण का प्रचलन हुआ तो जैन कलाकार और आश्रयदाता भी अग्रपंक्ति में रहे। युगधर्मीय गुणों के साथ कुछ दोष भी परिलक्षित हुए। क्योंकि खजुराहो के अन्य मन्दिरों के साथ ही जैन मन्दिर भी बने अत: दसवीं शती के पार्श्वनाथ आदि मन्दिरों में भी प्रणय और रति क्रीड़ा के प्रसंग प्रवेश कर गए। आचार्य जिनसेन कृत नवीं शती ई0 के हरिवंश पुराण में प्राप्त एक संदर्भ उल्लेखनीय है, जिसके अनुसार धर्म से विमुख और भोग में लिप्त तत्कालीन समाज को देवालयों के प्रति आकृष्ट करने के लिए रति और कामदेव की लीलाओं का अंकन आवश्यक समझा गया ताकि उनसे मोहित हो वे जिनालय तक पहुंचे और वहां कुछ देर धार्मिक प्रवचन सुनकर सन्मार्ग की ओर अग्रसित हो सकें। यही लक्ष्य होगा प्रणय लीलाओं को निवृत्ति प्रधान जैन धर्म में अपनाने का। किन्तु इसके दुष्परिणाम भी हुए। सभी धर्मों में इसकी अतिशयता से उद्देश्य विफल हो गया।

जैन शिल्प के वैभव की उत्कृष्टता दिलवाड़ा मन्दिर समूह में अवलोकनीय है। यहां तक्षण में शिल्प का इतना प्राधान्य है कि मन्दिर स्थापत्य शिल्प शास्त्र का नमूना बन गया है। संगमरमर का प्रचुर प्रयोग प्रथम बार 11वीं शती में यहीं हुआ। बाहर से मन्दिर जितने सादे लगते हैं अन्दर से उतने ही अलंकृत। गुम्बद का तक्षण विशेष रूप से दर्शनीय है। किन्तु तक्षण की अतिशयता वास्तु पर हावी हो गई है और रूपाकृतियों की निरन्तरता और एक रूपता कुछ समय में नेत्रों को खटकने लगती है। "अति सर्वत्र वर्जयेत्" का उल्लंघन श्रेष्ठि विमल शाह ने 11वीं शती में किया और इसकी पुनरावृत्ति 13वीं शती में तेजपाल और वस्तुपाल ने की। यदि इन कुछ त्रुटियों को उपेक्षित कर दिया जाय तो दिलवाड़ा के जैन मन्दिर वास्तव में शिल्प की पराकाष्ठा के द्योतक हैं।

जिन मूर्तियां तो साधनारत भाव में बैठी ध्यानस्थ अथवा खड़ी कायोत्सर्ग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप में बनाई जाती थीं। वस्त्र और अलंकारों की यहां उपेक्षा थी अतः कलाकार को प्रधान देवों के प्रदर्शन में अपने शिल्प चमत्कार का अवसर नहीं मिलता था। इस अभाव की पूर्ति वास्तु अलंकरण तथा अवान्तर देवों की सज्जा विधा से की। उन्हीं शैलीगत भेद से काल निर्धारण में सहायता मिलती है।

प्रस्तर मूर्तियों के अतिरिक्त जैन मत की धातु मूर्तियां भी बड़ी संख्या में मिली हैं जो कला सौष्ठव के साथ पुरातात्विक महत्व की भी हैं। गुजरात में अकोटा और बिहार में चौसा नामक स्थल से मिली मूर्तियां विशेष उल्लेखनीय हैं। इनका समय गुप्त काल चौथी से छटी शती ई0 का है यद्यपि कुछ विद्वान् इन्हें पूर्ववर्ती भी मानते हैं। अकोटा के धातु शिल्पी को तीर्थंकर की मूर्ति को वस्त्राभूषण से सज्जित करने की युक्ति सूझी। फलतः उसे जीवन्त स्वामी के रूप में प्रस्तुत किया। वर्धमान महावीर यहां राजकुमार के रूप में प्रदर्शित किए गए।

जैन कला के पुरासाक्ष्य भारत में तो यत्र तत्र प्रचुर मात्रा में हैं ही विश्व के अनेक संग्रहालयों व कलावीथियों की भी शोभा वृद्धि कर रहे हैं। इन सभी का सचित्र अभिलेखीकरण यथा शीघ्र अपेक्षित है ताकि विद्वानों व शोधकर्त्ताओं को अपने अध्ययन व अनुशीलन के लिए उपलब्ध रहे साथ ही भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में जैन कला का समुचित मूल्यांकन हो सके।

—निदेशक - भारत कला भवन, वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org